2

मुनिया से स्कूल इतना दूर क्यों?

शारदा कुमारी*

सर्वशिक्षा अभियान के अंतर्गत बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से अनेक योजनाएँ शुरू की गई हैं, लेकिन ये योजनाएँ तभी कारगर हो सकती हैं, जब इनसे जुड़े अन्य पहलुओं पर भी ध्यान दिया जाए। इस लेख में बालिकाओं की शिक्षा से जुड़े उन महत्वपूर्ण बिंदुओं पर विचार किया गया है, जो मुनिया जैसी हर नन्ही बच्ची को स्कूल से दूर करते हैं।

'प्राथमिक शिक्षक' जनवरी 2009 अंक में कभी एक कविता पढ़ी थी, 'मुनिया स्कूल क्यों नहीं जाती?' दिल की गहराइयों तक उतरने वाली यह कविता कहती है कि मुनिया ने स्कूल जाना इसलिए छोड़ दिया, क्योंकि उसकी उत्साह और उमंग से भरी आवाज़ को सुनने की गुंजाइश स्कूल की किसी भी कवायद में नहीं है। यह कविता मुनिया द्वारा स्कूल छोड़ देने के संदर्भ में उन सब बेहूदे कारणों को दर्ज़ नहीं करती है, जिनका आमतौर पर 'शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों' में उल्लेख किया जाता था और आज भी किया जाता है। बी. एड. हो या ई टी ई या फिर किसी और नाम से शिक्षकों की तैयारी का कोई भी कार्यक्रम, सभी में एक बहुत ही महत्वपूर्ण विषय पर बात की जाती है। वह विषय है- बालिका शिक्षा। बालिका शिक्षा को लेकर कई गंभीर सवाल पूछे जाते हैं। जैसे- ''भारत में बालिकाओं के विद्यालय न जा पाने या फिर पढ़ाई अधूरी छोड़ने के कारण। इस संदर्भ में जिन कारणों को उभारा जाता है, वे कुछ इस प्रकार के होते हैं–

- माता-पिता में लड़कियों की शिक्षा को लेकर जागरूकता का अभाव और उदासीनता का भाव;
- अभिभावकों की आर्थिक स्थिति;
- विवाह जल्दी छोटी आयु में तथा पर्दा प्रथा;
- लड़कियों द्वारा छोटे भाई बहनों की देखभाल;
- लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की शिक्षा के प्रति भेदभावपूर्ण रवैया;और
- घर के कामकाज का उत्तरदायित्व और अर्थोपार्जन संबंधी गतिविधियों में संलग्नता।

इसमें किसी भी तरह का कोई संशय नहीं है कि हमारे देश की बहुत-सी मुनियाएँ इन कारणों के रहते विद्यालय नहीं जा पाई और यह

* वरिष्ठ प्रवक्ता, मंडलीय शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, आर. के. पुरम्, नयी दिल्ली

भी सच है कि पिछले साठ-पैंसठ वर्षों में हम इन कारणों का समाधान खोजने में पूरी तरह से विफल रहे हैं। गरीबी दूर करने के संदर्भ में सरकार द्वारा किए गए तमाम दावों के बावजूद गरीबों की स्थिति जस की तस बनी हुई है। बालिकाओं को घरेलू कामधंधों से निजात दिला पाने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती है। अपने छोटे बहन-भाइयों की देखभाल करना उनकी नियति का हिस्सा है, फिर भी आज की तारीख में ये सभी बातें किसी भी तरह से उन्हें विद्यालय जाने से नहीं रोक पा रही हैं। गरीब से गरीब पिता भी सीना चौड़ा करके कहता है–

''चमड़ी देकर भी पढ़ाना पड़े तो भी लल्ली को पढ़ाऊँगा ज़रूर। इसकूल न छुड़ाऊँगा।'' माँ भले ही छोटे भाई को लल्ली की गोद में बस्ते के साथ-साथ लटका दें और छुटकी को उसके पीछे-पीछे भेज दें, परंतु वह इस डर से लल्ली की छुट्टी नहीं करवाती हैं कि कहीं लल्ली की पढ़ाई न छूट जाए। 'पेपरों' के समय वह बिटिया से घर का काम नहीं करवाती और उसे दूध भी देती हैं, जिससे *''बिटिया के लंबर अच्छे आ जाएँ।''*

सर्वशिक्षा अभियान के उद्देश्यों के प्रति अपनी संवैधानिक प्रतिबद्धताओं का ख़्याल करते हुए सरकार भी अपनी तरफ़ से मुस्तैद है लोगों को आकर्षित करने में, कभी वर्दियाँ तो कभी कॉपी-किताबें बाँटकर और 'मिड डे मील' का प्रलोभन देकर। दु:ख की बात तो यह है कि भारत की बहुत-सी मुनियाएँ स्कूल जाने की हसरतों को दिल ही दिल में छुपाए रखती हैं। इन मासूमों की स्कूल जाने की चाहतों के कुचले जाने की जो भी वजह रही हो, वे न तो कभी किसी बी.एड, ई.टी.ई. जैसे अध्यापक प्रशिक्षक कार्यक्रमों में चर्चा का विषय बन पाती हैं और न ही 'सभी के लिए शिक्षा' जैसे विश्व स्तरीय लक्ष्यों को हासिल करने से जुड़े कार्यक्रमों का। असली कारणों में से एक प्रमुख कारण 'मुनिया स्कूल क्यों नहीं जाती' कविता में अच्छी तरह से उभरकर आया है और वह कारण है, 'लड़कियों की आवाज़ को कक्षा में 'स्पेस' न मिल पाना।' सीधे-सपाट शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति को तरज़ीह न देना। आश्चर्य की बात तो यह है कि पूरे प्रशिक्षण कार्यक्रम के दौरान बाल केंद्रित शिक्षा को घोट-घोटकर समझने वाले अध्यापक कक्षाओं में जाते ही यह भूल जाते हैं कि वे बच्चों के बीच काम करने आए हैं बालिकाओं पर अपने ज्ञान की बौछार करना उनका प्रिय शगल बन जाता है। वे भूल जाते हैं कि कक्षा में मौजूद लड़कियाँ भी अपने अनुभवों के आधार पर विषयवस्तु को समझने-समझाने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं। दिल्ली के गोलमार्किट इलाके के स्कूल की बात है। कक्षा तीन में 'पर्यावरण अध्ययन' की घंटी में 'मकरसंक्रांति- हमारे त्योहार' पर पढ़ाया जा रहा था। पढ़ाने का तरीका कुछ इस तरह था कि शिक्षिका श्यामपट्ट पर त्योहार मनाने का तरीका लिख रही थीं और बच्चों को इसे अपनी कॉपी में उतारना था। तभी स्नेहलता नाम की छात्रा उठी और बड़े भोलेपन से उसने कहा, ''मैडम! मैडम!! हम नऽ... मकरसंक्रांति ऐसे नहीं मनाते जैसे आप लिख रही हैं। हम तो...'' इससे पहले

कि स्नेहलता अपनी बात पूरी कर सके, मैडम दहाड़ी, ''मुझे तुमसे सीखना पड़ेगा कि मकरसंक्रांति कैसे मनाते हैं? यह तुम मुझे बताओगी? जस्ट सिट डाउन।'' स्नेहलता सहम कर बैठ गई। उस बच्ची के दिल पर क्या बीती, इस बात से बेखबर होकर मैडम पुनः श्यामपट्ट पर निर्जीव से शब्द अंकित करने लगीं। अब तक वे निबंध के उस पड़ाव तक पहुँच गई हैं, जहाँ मकरसंक्रांति पर खाई जाने वाली मिठाइयों का ज़िक्र हो रहा है। मैडम फुर्ती से लिख रही हैं, ''हम सभी इस दिन तिल के लड्डू खाते हैं...।'' स्नेहलता कुछ कहने के लिए कसमसा-सी रही थी।

उसके होंठ बार-बार खुलते फिर सहमकर बंद हो जाते। उसके पास बैठी तन्वी उसकी बेबसी समझ रही थी। वह बहुत ही शालीनता से बोली, ''मैडम! हमारे और स्नेह के घर तो तिल के लड्डू नहीं खाते।'' ''तुम्हारी औकात होगी तभी खाओगी न तिल के ललड्डू! तुम्हारे घर में क्या खाते हैं क्या नहीं, इससे मुझे क्या लेना। अबकी डिस्टर्ब किया तो सीधे क्लास से बाहर कर दूँगी। समझीं!'' मैडम गुस्से से इतना ज़्यादा थर्रा रही थीं, कि कितने ही बच्चों की कलमें सहमकर इधर-उधर छिटक गईं। चौथे दिन पता चला कि स्नेह और तन्वी अब स्कूल नहीं आ रही हैं और न ही वे आएँगी। स्नेह और तन्वी जिस कारण के रहते विद्यालयी परिधि से बाहर हुई, क्या उस कारण की कभी कहीं चर्चा की जाती है? शायद नहीं! परंतु इसे सच समझिए! बहुत-सी बालिकाएँ अपनी आवाज़ को जगह न मिलने के कारण विद्यालय जाना छोड़ देती हैं। 'विद्यालय अनुभव कार्यक्रम' के दौरान बालिका शिक्षा से जुड़ी बहुत-सी उन बातों को समझने का मौका मिला, जिन पर हर उस व्यक्ति को ग़ौर करना होगा जो बालिकाओं की शिक्षा से तनिक भी सरोकार रखते हैं। भारत की दम तोड़ती हुई ग्रामीण अर्थव्यवस्था से त्रस्त होकर बहुत-से ग्रामीण दो वक्त की रोटी के जुगाड़ में दिल्ली आते हैं। सिर पर मैली-कुचैली प्लास्टिक या टूटी-फूटी टीन की छत तथा काम के जुगाड़ के बाद अपने बच्चों (जिनमें बेटियाँ भी शामिल हैं) के दाखिले के लिए हाथ-पैर मारना शुरू कर देते हैं। दाखिला तो मिल जाता है, परंतु दो-तीन दिहाड़ियों के अथक परिश्रम के बाद भी क्या मिल पाती है किसी तरह की सुरक्षा की भावना जो उन्हें मानवीय गरिमा का अहसास दिला सके, उनकी अस्मिता को बनाए रख सके! चारू को दाखिला मिलता है वाल्मीकि बस्ती के स्कूल में। देहात के शुद्ध हवा-पानी का असर है या कुछ और, अन्य लड़कियों की अपेक्षा और कुछ बड़ी-सी दिखती है। स्कूल के 'वाटर मैन' की नज़रें जब-तब उसी को खोजती रहती हैं। वही क्यों, उसी स्कूल की दूसरी पाली में पढ़ने वाले लड़के भी कम नहीं हैं। सातवीं या आठवीं कक्षा में ही पढ़ रहे होंगे। उनकी नज़रें भी चारू को ढूँढती रहती हैं। ''आती क्या खंडाला' से जब मन नहीं भरा तो बेहूदगी की हद पार कर दी और इधर चारू ही नहीं उसके साथ उसकी सहेलियों की हदें भी तय हो गईं। अभी तो बहुत-सी कक्षाएँ उत्तीर्ण करनी थीं, पर छठी पर ही विराम लग गया। बालिका शिक्षा के संदर्भ में क्या इस कारण को भी महत्वपूर्ण मानकर उनके द्वारा शाला त्यागने

की वजहों में जोड़ा जाता है? यह सिर्फ़ वाल्मीकि बस्ती के ही स्कूल की बात नहीं है। देश के कोने-कोने में ऐसे स्कूल हैं, जहाँ अध्यापकों, अन्य कर्मचारियों, मुहल्ले के लड़कों की चुहलबाजियाँ लड़कियों को स्कूल आने से रोकती हैं। विडंबना तो यह है कि जो कुकृत्य करते हैं, वे मस्ताए से घूमते रहते हैं और उनकी दुर्भावनाओं का शिकार हुई लड़कियाँ, 'लड़कियाँ' होने के कारण घर की चौखट में कैद हो जाती हैं। बालिका शिक्षा पर बात करना तभी सार्थक है, जब बालिकाओं को घर में, रास्ते में, विद्यालय में हर तरह की सुरक्षा मुहैया करवाई जाए, अब मैं जिस कारण पर बात करूँगी, वह भी कम चौंकाने वाला नहीं है। सर्वशिक्षा अभियान का 'स्कूल चलें हम' छोटी-बड़ी सभी लड़कियों को स्कूल की ओर आमंत्रित करता है। चहकती, खिलखिलाती लड़कियाँ स्कूल के माहौल को खुशगवार बना देती हैं, परंतु यह खुशनुमा-सा माहौल कभी-कभी उनके लिए स्कूल छोड़ने की वजह भी बन जाता है। किशोरावस्था की ओर कूदती-फाँदती इन लड़कियों को अकसर सुनने को मिलता है, ''माँ-बाप ने तौर-तरीके सिखाए हैं या नहीं! लड़कियों का इतना उछलना-कूदना ठीक नहीं है! ये क्या लड़कों की तरह ठहाके लगा रही हो? कदम थोड़े छोटे नहीं रख सकती क्या? ऐसे क्या लड़कों की तरह मस्ती से चल रही हो? फैशन करना है तो घर पर बैठो! ये स्कूल है! खबरदार! जो शाम की पाली के लड़कों का इंतज़ार किया तो।'' भला कौन इतना कठोर हृदय का होगा जो इन तमाम टिप्पणियों को चुपचाप सहन कर लेगा, पर करना ही पड़ेगा, क्योंकि कहनेवाले 'बड़े' हैं, बच्चियों का भला सोचने वाले 'अध्यापक' हैं। उनकी ये नसीहतें मन को इस सीमा तक बाँध देती हैं कि हताश होकर घर बैठना कहीं अधिक सुखकर लगने लगता है। क्या कभी अध्यापकों और समाज के अनेक अन्य रखवालों ने इस बात पर ग़ौर किया है कि लड़कियों के प्रति गैर संवेदनशील रवैया बहुत-सी लड़कियों के लिए 'स्कूल ड्रॉप आउट' का कारण बन जाता है। 'एक तो करेला, दूजे नीम चढ़ा' की स्थिति तो तब पैदा हो जाती है, जब किसी लड़की के वस्त्रों पर खून के धब्बे देख लिए जाते हैं। कुछ लड़कियों के संदर्भ में पाँचवी-छठी कक्षा तक आते-आते मासिक धर्म आना शुरू हो जाता है। इस ज़िम्मेदारी का निर्वाह करने की क्षमता उनमें खुद ब खुद आ जाती है, परंतु कभी-कभी असावधानी हो ही जाती है। यह ऐसा तो कारण नहीं है कि लड़की को लड़की होने के लिए प्रताड़ित किया जाए। ऐसी भी वजह नहीं है कि घर बैठने की सलाह दी जाए या शर्मसार किया जाए। घबराई हुई लड़की जो शरीर में हो रहे परिवर्तनों से पहले ही परेशान है, शर्मिंदगी का बोझ सहन नहीं कर पाती है और 'कहीं अगले महीने भी कुछ ऐसा न हो जाए' इस भय के रहते स्कूल आने का विचार ही त्याग देती है। उठने-बैठने के शऊर सीखने में न तो वे सलीके ही सीख पाती हैं और न ही पढ़ाई पूरी कर पाती हैं। आत्मविश्वास की तो बात ही क्या की जाए अपने 'होने' पर भी उन्हें संदेह होने लगता है!

लड़कियों के स्कूल छोड़ देने के संदर्भ में अब जो बात रखने जा रही हूँ, वह शायद आपको अनहोनी-सी लगे। अधिकांश लोगों के मन में यह धारणा बनी हुई है कि गाँवों एवं शहरी कच्ची बस्तियों में रहनेवाले निचले तबके के लोगों और विशेषकर अशिक्षित/असाक्षर अभिभावकों को शिक्षा की गुणवत्ता से कोई लेना-देना नहीं होता है। वे जानते ही नहीं हैं कि उनके बच्चों को क्या-क्या सीख और समझ लेना चाहिए। बहुत-से लोग यही समझते हैं कि आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए तो यही काफ़ी है कि उनके बच्चे स्कूल में नामांकित हो जाएँ, मिड-डे मिल पा लें, मुफ्त में मिल रही वर्दी-कॉपी किताबों का फ़ायदा उठा लें। ऐसा समझना अपने-आप को भ्रम में रखना है। मेरे अनुभव तो यही सिद्ध करते हैं कि अनपढ़ महिलाएँ भी अपनी लड़कियों की शिक्षा के उपलब्धि स्तर को लेकर उतनी ही चिंतित हैं जितनी कि पढ़ी-लिखी मध्यम एवं धनाढ्य परिवारों की महिलाएँ। गरीबी का दंश भोग रही अनपढ़ महिलाएँ भी समझती हैं कि अगर उनकी बेटियाँ चार वर्ष विद्यालय गई हैं, तो उसे क्या-क्या सीख लेना चाहिए। अपनी इस बात को वज़नदार बनाने के लिए मेरे पास एक नहीं, कई उदाहरण हैं। पहला उदाहरण प्रस्तुत करती हूँ, 'नगर पालिका विद्यालय, औरंगजेब लेन' का। इस इलाके में आकर ही लगता है कि हम भारत जैसे विशाल देश की राजधानी में हैं। चौड़ी -चिकनी, साफ-सुथरी सड़कें, दोनों तरफ़ चौड़े फुटपाथ, नीम और जामुन के विशाल वृक्ष मंत्रियों और उद्योगपतियों -उद्योगपत्नियों के भव्य भवन। मानवीय जीवन को हर तरह की सुविधा प्रदान करनेवाले तमाम आडंबरों से लैस इन भवनों के पिछवाड़े नगरपालिका का माध्यमिक विद्यालय है। उसका भवन भी कम आकर्षक नहीं है। इन हवेलियों से शायद प्रतिस्पर्धा लेना चाहता हो। यहाँ आनेवाली अध्यापिकाओं का शैक्षिक स्तर, रहन-सहन और परिधानों का स्तर भी ऊँचा है। सब कुछ उस इलाके की गरिमा के अनुसार। जिस इलाके में 10-15 कैबिनेट स्तर के मंत्री और चार-पाँच उद्योगपति रहते हों, ज़ाहिर-सी बात है कि वहाँ सौ-दो सौ नौकर- चाकर भी रहते ही होंगे और उनके बच्चे भी। नगरपालिका का स्कूल उन्हीं बच्चों की शिक्षा के प्रति संवैधानिक प्रतिबद्धता को पूरा करता है। इस विद्यालय में कम-से-कम 150 लड़कियाँ प्रतिवर्ष पहली कक्षा में दाखिला लेती हैं। परंतु पाँचवी तक आते-आते इनकी संख्या 25-30 के करीब ही रह जाती है। सवाल यह उठता है कि बाकी बालिकाएँ कहाँ गईं? क्या उनके परिवार गाँव वापिस चले गए? क्या राजधानी के किसी और क्षेत्र में नौकरी या ठौर-ठिकाना मिल गया? क्या उन्हें भी अपने मालिकों के बच्चों की तरह प्राइवेट स्कूल जाने का सौभाग्य प्राप्त हो गया? क्या वे बालविवाह करके अपने ससुराल चली गईं या फिर वे इस जीवन से ही कूच कर गईं। इन सब सवालों का उत्तर 'नहीं' में हैं। वे सब लड़कियाँ इसी इलाके में मौजूद हैं। उनके माता-पिता उनकी पढ़ाई के प्रति जागरूक हैं, स्कूल आना इन लड़कियों को बहुत अच्छा लगता है, फिर भी ये स्कूल आना छोड़ देती हैं, क्योंकि ''तीन

साल स्कूल में बिताने के बाद भी ये वह सब नहीं सीख पाती हैं जो इन्हें सीख लेना चाहिए। यहीं की निवासी मिथिला ने चौथी कक्षा में पढ़ रही बेटी को कहा कि अपनी मौसी को चिट्ठी लिख दे। बिटिया तत्काल कागज़ कलम ले आई। माँ बोली- मौसी को बोल कि भैंसिया गाभन है खूब ख्याल रखियो। सिर्फ़ चारे से काम न चलाइयो। खली, बिनौला, भुस सभी देना। कोई कोताही न बरतना। जो तो हुई कटिया तो घर रख लेना और जो हुआ कटरा तो बेच देना.....'' माँ अपनी रौ में बोलती जा रही थी। बेटी अगले-बगले झाँक रही थी। बोली-ऐ! माँ क्या बोलती जाती है। ये सब स्कूल में नहीं लिखाया जाता। मुझे ऐसा पत्र लिखना नहीं आता। माँ की पेशानी पर बल पड़े। *''चार साल से इसकूल भेजत रही, पर एक ठौ लाइन भी न लिख पा रही।''* अगले दिन अध्यापिका से दरियाफ्त की। पता चला कॉमनवैल्थ खेल अधिकारी, नगरपालिका अधिकारी और मुख्याध्यापिका को पत्र लिखने सिखाए गए हैं। लड़की को तीनों पत्र जुबानी याद थे। अध्यापिका के कहने पर वह पत्र कॉपी में लिखने लगी। माँ ने कॉपी झपटी और झिड़का-''ए मैडम! जे रटी-रटाई बात लिख लेना पढ़ाई होगी तुम्हारे लिए। जो बालक मन की बात लिख न पाएँ, ओ पढ़ाई तुम ही रखो अपने धौरे।'' झिड़कते-झिड़कते अपनी लड़की को घर ले गईं। साथ में सुखिया, वीरमती, शिखा, सुमन, रूक्सार भी चलती बनीं और इनमें से फिर कभी पलटकर स्कूल नहीं गई।

क्या इन कारणों पर भी कभी हम चर्चा करते हैं कि बच्चियाँ कुछ सीख नहीं पा रहीं हैं, इसलिए स्कूल छोड़ देती हैं

एक अध्ययन के अनुसार 26 प्रतिशत बच्चियाँ स्कूलों में दोस्ताना माहौल न मिल पाने के कारण पढ़ाई छोड़ देती हैं और 75 फीसदी लड़कियाँ (ग्रामीण इलाकों की) पढ़ाई अच्छी न होने की वजह से पढ़ाई छोड़ देती हैं। यह सही है कि ग्रामीण क्षेत्रों और गरीब तबकों में पढ़ाई से ज़्यादा बच्चों की ज़रूरत घर के अन्य कामों के लिए हैं फिर भी कमज़ोर शिक्षण स्तर उनके स्कूल न जाने या बीच में छोड़ देने की वजह है। आँकड़े बताते हैं कि स्कूलों की शिक्षा व्यवस्था में गुणवत्ता की बेहद ज़रूरत है। ग्रामीण व गरीबी वाले इलाकों में स्कूल ऐसे स्थान नहीं बन पाए हैं, जहाँ कुछ सीखा जाए। स्कूल छोड़ने की एक बड़ी वजह यह समझ में आई कि चार-पाँच साल स्कूल में बिताने के बाद भी लड़कियाँ ठीक से पढ़ना-लिखना नहीं सीख पाती हैं। अभिभावकों ने ऐसे कई स्कूलों के बारे में बताया, जहाँ लड़कियों को कुछ भी नहीं सिखाया-पढ़ाया जाता है। कुछ ने तो यह भी बताया कि कुछ मैडमें जो विद्यालय के आस-पास रहती हैं, स्कूल टाइम में चार-पाँच लड़कियों को समूह में अपने-अपने घर भेज देती हैं। वहाँ बरतन-चौका, झाड़ू-बुहारी, सब्जी काटना जैसे काम करवाकर छुट्टी से पहले स्कूल बुलवा लेती हैं। ये सब बातें लड़कियों को स्कूल से बाहर करने का बहुत बड़ा कारण बनती हैं। यह पाया गया है कि लड़कियों का स्कूल जाना आज भी सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों से जुड़ा हुआ है। लड़कियों

को औपचारिक शिक्षा प्रणाली से जोड़ने का मतलब है, उन्हें कई तरह की सुविधाएँ देना। जैसे–सार्वजनिक जगहों पर आना–जाना, लड़कों से बातचीत करना, लड़कों की तरह बातचीत करना, खेलना–कूदना। प्राथमिक स्तर तक तो (जब तक लड़कियाँ छोटी हैं) माता–पिता और यहाँ तक कि कुछ अध्यापक भी यह सब सहन कर लेते हैं, परंतु जैसे ही वे बड़ी (जवान) होने लगती हैं, उनके व्यवहार पर रोक–टोक लगनी शुरू हो जाती है। इस संदर्भ में यह समझा जा सकता है कि क्यों लड़कियों को 11 या 14 साल के बाद स्कूल छोड़ना पड़ता है।

लड़कियों की शिक्षा को लेकर अपंगता भी आड़े आती है। चलने–फिरने में असमर्थ लड़की के सामने स्कूल में कई तरह की शारीरिक दिक्कतें हैं– स्कूल पहुँचना, दरी पर बैठना, शौचालय जाना आदि–आदि। बोलने–सुनने में असमर्थ लड़की की शैक्षिक ज़रूरतें भी अध्यापकों और अभिभावकों की समझ से बाहर हैं। सहायक उपकरण और परिवहन की ज़रूरत अपंग लड़कियों के लिए शिक्षा को एक महँगा सौदा बना देती हैं।

लड़कियों की शिक्षा के संदर्भ में अभिभावकों को तो जागरूक बनाने के लिए बहुत–सी कवायदें की जा रही हैं। इससे कहीं ज़्यादा ज़रूरी है, शिक्षकों की तैयारी। सेवा पूर्व प्रशिक्षण कार्यक्रमों में लड़कियों की शिक्षा से जुड़े व्यावहारिक पक्षों पर विमर्श किया जाए और कुछ इस तरह की कोशिशें की जाएँ कि लड़कियों की शिक्षा के बारे में हम सभी सोचना शुरू करें।

❑❑❑